

जैन दर्शन में वीर भाव की अवधारणा

डॉ० नरेन्द्र भानावत

जैन दर्शन अहिंसा-प्रधान दर्शन है। अहिंसा को 'न मारने' तक सीमित करके लोगों ने उसे निष्क्रियता और कायरता समझने की भ्रामक कल्पनाएँ की हैं। तथाकथित आलोचकों ने अहिंसा धर्म को पराधीनता के लिए जिम्मेदार भी ठहराया। महात्मा गांधी ने वर्तमान युग में अहिंसा की तेजस्विता को प्रकट कर यह सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा वीरों का धर्म है, कायरों का नहीं। इस संदर्भ में सोचने पर सचमुच लगता है कि अहिंसा धर्म के मूल में वीरता का भाव है।

वीरभाव का स्वरूप

काव्यशास्त्रियों ने नवरसों की विवेचना करते हुए उनमें वीररस को एक प्रमुख रस माना है। वीररस का स्थायी भाव उत्तम प्राकृतिक उत्साह कहा गया है। किसी कार्य को सम्पन्न करने हेतु हमारे मानस में एक विशेष प्रकार की सत्वर क्रिया सजग रहती है, वही उत्साह है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उत्साह में प्रयत्न और आनन्द की मिली-जुली वृत्ति को महत्व दिया है। उनके शब्दों में—“साहस-पूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।” मनोविज्ञान की दृष्टि से वीरभाव एक स्थायी भाव (Sentiment) है, जो स्नेह, करुणा, धैर्य, गौरवानुभूति, तप, त्याग, रक्षा, आत्मविश्वास, आक्रोश, प्रभुता आदि संवेगों (Emotions) के सम्मिलित प्रभाव का प्रतिफल है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'वीर' शब्द में मूल धातु 'वृ' है जिसका अर्थ छाँटना, चयन करना, वरण करना है अर्थात् जो वरणकर्ता है, वह वीर है। इसी अर्थ में वर का अर्थ 'दूहा' होता है क्योंकि वह वधू का वरण करता है, वरण कर लेने पर ही वर वीर बनता है। इसमें श्रेष्ठता का भाव भी अनुस्यूत है। इस दृष्टि से वीर भाव एक आदर्श भाव है जिसमें श्रेष्ठ समझे जाने वाले मानवीय भावों को समुच्चय रहता है।

वीरभाव और आत्मस्वातन्त्र्य

वीरभावना के मूल में जिस उत्साह की स्थिति है वह पुरुषार्थ प्रधान है। पुरुषार्थ की प्रधानता व्यक्ति को स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर बनाती है। वह अपने सुख-दुःख, हानि-लाभ, निन्दा-प्रशंसा, जीवन-मरण आदि में किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहता। आत्मकर्तव्य का यह भाव जैन दर्शन का मूल आधार है—

अप्पा, कत्ता, त्रिकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तममित्तं चं, दुपट्ठय सुपट्ठओ ॥^१

अर्थात् आत्मा ही सुख-दुःख करने वाली तथा उनका नाश करने वाली है। सत् प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र रूप है जबकि दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु रूप है।

इस वीर भावना का आत्मस्वातन्त्र्य से गहरा सम्बन्ध है। जैन मान्यता के अनुसार जीव अथवा आत्मा स्वतन्त्र अस्तित्व वाला द्रव्य है। अपने अस्तित्व के लिए न तो यह किसी दूसरे द्रव्य पर आश्रित है और न इस पर आश्रित कोई अन्य द्रव्य है। इस दृष्टि से जीव को अपना स्वामी स्वयं कहा गया है। उसकी स्वाधीनता और पराधीनता उसके स्वयं के कर्मों के अधीन है। रागद्वेष के कारण जब उसकी आत्मिक शक्तियाँ आवृत्त हो जाती हैं तब वह पराधीन हो जाती है। अपने सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप द्वारा जब वह ज्ञानावरण, दर्शना-वरण, मोहनीय, और अन्तराय कर्मों का नाश कर देता है तब उसकी आत्मशक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो जाती हैं और वह जीवन-मुक्त अर्थात् अरिहंत बन जाता है। अपनी शक्तियों को प्रस्फुटित करने में किसी की कृपा, या दया कारणभूत नहीं बनती। स्वयं उसका

१. उत्तराध्ययन २०/३७

पुरुषार्थ या वीरत्व ही सहायता बनता है। अपने वीरत्व और पुरुषार्थ के बल पर साधक अपने कर्मफल में परिवर्तन ला सकता है। कर्म परिवर्तन के निम्नलिखित चार सिद्धान्त इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

१. उदीरणा—नियत अवधि से पहले कर्म का उदय में आना।
२. उद्धर्तन—कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति में अभिवृद्धि होना।
३. अपवर्तन—कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति में कमी होना।
४. संक्रमण—एक कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति में संक्रमण होना।

उक्त सिद्धान्त के आधार पर साधक अपने पुरुषार्थ के बल से बंधे हुए कर्मों की अवधि को घटा-बढ़ा सकता है और कर्मफल की शक्ति मन्द अथवा तीव्र कर सकता है। यही नहीं, नियत अवधि से पहले कर्म को भोगा जा सकता है और उनकी प्रकृति को बदला जा सकता है।

वीरता के प्रकार

वीर भावना का स्वातन्त्र्यभाव से गहरा सम्बन्ध है। वीर अपने पर किसी का नियंत्रण और शासन नहीं चाहता। मानव सभ्यता का इतिहास स्वतन्त्र भावना की रक्षा के लिये लड़े जाने वाले युद्धों का इतिहास है। इन युद्धों के मूल में साम्राज्य-विस्तार, सत्ता-विस्तार, यशोलिप्सा, और लौकिक समृद्धि की प्राप्ति ही मुख्य कारण रहे हैं। इन बाहरी भौतिक पदार्थों और राज्यों पर विजय प्राप्त करने वाले वीरों के लिए ही कहा गया है—“वीरभोग्या वसुन्धरा।” ये वीर शारीरिक और साम्प्रतिक बल में अद्वितीय होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार चक्रवर्ती चौदह रत्नों के धारक और छह खण्ड पृथ्वी के स्वामी होते हैं। वासुदेव भरत क्षेत्र के तीन खण्डों और सात रत्नों के स्वामी होते हैं। इनका अतिशय बतलाते हुए कहा गया है कि वासुदेव अतुल बली होते हैं। कुएँ के तट पर बैठे हुए वासुदेव को जंजीर से बाँध कर हाथी, घोड़े, रथ और पदाति रूप चतुरंगिणी सेना सहित सोलह हजार राजा भी खींचने लगे तो वे उसे नहीं खींच सकते। किन्तु उसी जंजीर को बाँधे हाथ से पकड़कर वासुदेव अपनी तरफ बड़ी आसानी से खींच सकता है। वासुदेव का जो बल बतलाया गया है उससे दुगुना बल चक्रवर्ती में होता है। तीर्थंकर चक्रवर्ती से भी अधिक बलशाली होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वीरता के दो प्रकार हैं—एक बहिर्मुखी वीरता, और दूसरी अन्तर्मुखी वीरता। बहिर्मुखी वीरता की अपनी सीमा है। जैन दर्शन में उसके कीर्तिमान माने गये हैं चक्रवर्ती जो भरत क्षेत्र के छह खण्डों पर विजय प्राप्त करते हैं। लौकिक महाकाव्यों में रामायण, महाभारत, पृथ्वीराज रासो में बहिर्मुखी वीरों के अतिरंजनापूर्ण यशोगान भरे पड़े हैं। जैन साहित्य में भी ऐसे वीरों का उल्लेख और वर्णन मिलता है। पर उनकी यह वीरता जीवन का ध्येय या आदर्श नहीं मानी गई है। जैन इतिहास में ऐसे सैकड़ों वीर राजा हो गये हैं, पर वे वन्दनीय-पूजनीय नहीं हैं। वे वन्दनीय-पूजनीय तब बनते हैं जब उनकी बहिर्मुखी वीरता अन्तर्मुखी बनती है। इन अन्तर्मुखी वीरों में तीर्थंकर, केवली, श्रमण, श्रमणियाँ आदि आते हैं। बहिर्मुखी वीरता के अन्तर्मुखी वीरता में रूपान्तरित होने का आदर्श उदाहरण भरत बाहुबली का है। भरत चक्रवर्ती बाहुबली पर विजय प्राप्त करने के लिए विराट् सेना लेकर कूच करते हैं। दोनों सेनाओं में परस्पर युद्ध होता है। अन्ततः भयंकर जन-संहार से बचने के लिये दोनों भाई मिलकर निर्णायक द्वन्द्व-युद्ध के लिये सहमत होते हैं। दोनों में दृष्टियुद्ध, वाक्युद्ध, बाहुयुद्ध होता है और इन सबमें भरत पराजित हो जाते हैं। तब भरत सोचते हैं क्या बाहुबली चक्रवर्ती है जिससे कि मैं कमजोर पड़ रहा हूँ? इस विचार के साथ ही वे आवेश में आकर बाहुबली के सिरच्छेदन के लिए चक्ररत्न से उस पर वार करते हैं। बाहुबली प्रतिक्रिया स्वरूप क्रुद्ध हो चक्र को पकड़ने का प्रयत्न करते हुए मुष्टि उठाकर सोचते हैं—मुझे धर्म छोड़कर भ्रातृवध का दुष्टकर्म नहीं करना चाहिये। ऋषभ की सन्तानों की परम्परा हिंसा की नहीं, अपितु अहिंसा की है। प्रेम ही मेरी कुल-परम्परा है। किन्तु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाये? उन्होंने विवेक से काम लिया, अपने उठे हुए हाथ को अपने ही सिर पर दे मारा और बालों का लुंचन करके वे श्रमण बन गये। उन्होंने ऋषभदेव के चरणों में वहीं से भावपूर्वक नमन किया, कृत अपराध के लिये क्षमा-प्रार्थना की और उग्र तपस्या कर अहं का विसर्जन कर, मुक्ति रूपी वधू का वरण किया।

भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि तीर्थंकर अन्तर्मुखी वीरता के सर्वोपरि आदर्श हैं। भगवान् महावीर के समय में वर्ण-व्यवस्था विकृत हो गयी थी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों का आदर्श अत्यन्त संकीर्ण हो गया था। ब्राह्मण यज्ञ के नाम पर पशु-बलि को महत्त्व दे रहे थे तो क्षत्रिय देश-रक्षा के नाम पर युद्ध-जनित हिंसा और सत्ता-लिप्सा को बढ़ावा दे रहे थे। महावीर स्वयं क्षत्रिय कुल में पैदा हुए थे। उन्होंने क्षत्रियत्व के मूल आदर्श रक्षा भाव को पहचाना और विचार किया कि रक्षा के नाम पर कितनी हिंसा हो रही है, पीड़ा-मुक्ति के नाम पर कितनी पीड़ा दी जा रही है। सच्चा क्षत्रियत्व दूसरे को जीतने में नहीं, स्वयं अपने को जीतने में है, पर-नियन्त्रण नहीं स्वनियन्त्रण ही सच्ची विजय है। उन्होंने सम्पूर्ण राज्य-वैभव और शासन-सत्ता का परित्याग कर आत्मविजय के लिए प्रयाण किया। वे संन्यस्त होकर कठोर ध्यान

साधना और उग्र तपस्या में लीन हो गए। साढ़े बारह वर्षों तक वे आन्तरिक विकारों—शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते रहे। अन्ततः वे आत्मविजयी बने और अपने महावीर नाम को सार्थक किया। सच्चे क्षत्रियत्व और सच्चे वीर को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा “एस वीरे प्रसंसिए, जे बढ्के पडिमोयए।” अर्थात् वह वीर प्रशंसनीय है जो स्वयं बन्धनमुक्त तो है ही, दूसरों को भी बन्धन-मुक्त करता है। वीर है वह जो स्वयं तो पूर्णतः स्वतन्त्र है ही दूसरों को भी स्वतन्त्र करता है, वीर वह है जो दूसरों को भयभीत नहीं करता अपनी सत्ता से, बल्कि उनको सत्ता के भय से ही सदा के लिए मुक्त कर देता है, चाहे वह सत्ता किसी की भी हो, कैसी भी हो।

वीर का व्यवहार और मनःस्थिति

वीरता के स्वरूप पर ही वीर का व्यवहार और उसकी मनःस्थिति निर्भर है। बहिर्मुखी वीर की वृत्ति आक्रामक और दूसरों को परास्त कर पुनः अपने अधीन बनाने की रहती है। दूसरों पर प्रभुत्व कायम करने और लौकिक समृद्धि प्राप्त करने की इच्छा का कोई अन्त नहीं। ज्यों-ज्यों इस ओर इन्द्रियाँ और मन प्रवृत्त होते हैं त्यों-त्यों इनकी लालसा बढ़ती जाती है, हिंसा है; प्रतिहिंसा में बदलती है, क्रोध वीर का रूप धारण करता है और युद्ध पर युद्ध होते चलते हैं। युद्ध और सत्ता में विश्वास करने वाला वीर प्रतिक्रियाशील होता है, क्रूर और भयंकर होता है। दूसरों को दुःख, पीड़ा और यन्त्रणा देने में उसे आनन्द आता है। बाहरी साधनों सेना, अस्त्र-शस्त्र, राजदरबार, राजकोष आदि को बढ़ाने में वह अपनी शौर्यवृत्ति का प्रदर्शन करता है। उसकी वीरता का मापदण्ड रहता है दूसरों को मारना न कि बचाना, दूसरों को गुलाम बनाना न कि गुलामी से मुक्त करना, दूसरों को दबाना न कि उबारना। ऐसा वीर आवेगशील होने के कारण अधीर और व्याकुल होता है। वह अपने पर किसी क्रिया के प्रभाव को झेल नहीं पाता और भीतर ही भीतर संतप्त और त्रस्त बना रहता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से ऐसा वीर सचमुच कायर होता है, कातर होता है; क्रोध, मान, माया और लोभ की आग में निरन्तर दग्ध बना रहता है। बाहरी वैभव और विलास में जीवित रहते हुए भी आन्तरिक चेतना और संवेदना की दृष्टि से वह मृतप्राय होता है। उसके चित्त के संस्कार कुठित और संवेदनारहित बन जाते हैं।

जैन दर्शन में बहिर्मुखी वीर भाव को आत्मा का स्वभाव न मानकर मन का विकार और विभाव माना है। अन्तर्मुखी वीर ही उसकी दृष्टि में सच्चा वीर है। यह वीर बाहरी उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रियाशील नहीं होता। विषम परिस्थितियों के बीच भी वह प्रसन्न-चित्त बना रहता है। वह संकटों का सामना दूसरों को दबाकर नहीं करता। उसकी दृष्टि में सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति का कारण कहीं बाहर नहीं, उसके भीतर है। वह शरीर से सम्बन्धित उपसर्गों व परीक्षाओं को समभावपूर्वक सहन करता है। उसके मन में किसी के प्रति घृणा, द्वेष और प्रतिहिंसा का भाव नहीं होता। वह दूसरों का दमन करने के बजाय आत्मदमन करने लगता है। यह आत्मदमन और आत्म-संयम ही सच्चा वीरत्व है। भगवान् महावीर ने कहा है—

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बुज्झवो।

अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुखमेहए॥^१

अर्थात् आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी दुश्मनों के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत-कर मनुष्य सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है।

जिन वीरों ने मानवीय रक्त बहाकर विजय-यात्रा आरम्भ की, अन्त में उन्हें मिला क्या? सिकन्दर जैसे महान् योद्धा भी खाली हाथ चले गये। वस्तुतः कोई किसी का स्वामी या नाथ नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र के ‘महानिर्ग्रन्थीय’ नामक २०वें अध्ययन में अनाथी मुनि और राजा श्रेणिक के बीच हुए वार्तालाप में अनाथता का प्रेरक वर्णन किया गया है। राजा श्रेणिक मुनि से कहते हैं—मेरे पास हाथी, घोड़े, मनुष्य, नगर, अन्तःपुर तथा पर्याप्त द्रव्यादि समृद्धि है। सब प्रकार के काम-भोगों को मैं भोगता हूँ और सब पर मेरी आज्ञा चलती है, फिर मैं अनाथ कैसे? इस पर मुनि उत्तर देते हैं—सब प्रकार की भौतिक सामग्री मनुष्य को रोगों और दुखों से नहीं बचा सकती। क्षमा-वान और इन्द्रिय-निग्रही व्यक्ति ही दुःखों और रोगों से मुक्त हो सकता है। आत्मजयी व्यक्ति ही अपना और दूसरों का नाथ है—

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥^२

जो पुरुष दुर्जय संग्राम में दस लाख सुभटों पर विजय प्राप्त करता है और एक महात्मा अपनी आत्मा जीतता है। इन दोनों में उस महात्मा की विजय ही श्रेष्ठ विजय है।

१. उत्तराध्ययन ६/३५

२. उत्तराध्ययन ६/३४

आदर्श वीरता का उदाहरण क्षमा वीर है। क्षमा पृथ्वी को भी कहते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी बाहरी हलचल और भीतरी उद्वेग को समभावपूर्वक सहन करती है, उसी प्रकार सच्चा वीर शरीर और आत्मा को अलग-अलग समझता हुआ सब प्रकार के दुःखों और कष्टों को समभावपूर्वक सहन करता है। सच तो यह है कि उसकी चेतना का स्तर इतना अधिक उन्नत हो जाता है कि उसके लिये वस्तु, व्यक्ति और घटना का प्रत्यक्षीकरण ही बदल जाता है। तब उसे दुःख दुःख नहीं लगता, सुख सुख नहीं लगता। वह सुख-दुःख से परे अक्षय, अव्याबाध, अनन्त आनन्द में रमण करने लगता है। वह क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को सरलता से और लोभ को संतोष से जीत लेता है—

**उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमवज्जवमावेण, लोभ संतोसओं जिणे ॥^१**

यह कषाय-विजय ही श्रेष्ठ विजय है। क्षमावीर निर्भीक और अहिंसक होता है। प्रतिशोध लेने की क्षमता होते हुए भी वह किसी से प्रतिशोध नहीं लेता। क्षमा धारण करने से ही अहिंसा वीरों का धर्म बनती है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २६ वें 'सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन' में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं—धमावणयाएणं भन्ते। जीवे किं जणयइ ?

हे भगवन् ! अपने अपराध की क्षमा माँगने से जीव को किन गुणों की प्राप्ति होती है ?

उत्तर में भगवान् कहते हैं—खमावणयाएणं पल्हायण भाव जणयई, पल्हायण भावमुवगए य सव्वपाणमूय जीव सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएई, मित्ती भावमुवगए यावि जीव भावविसोहि काऊण णिम्मए भवई ॥ १७ ॥

अर्थात् क्षमा माँगने से चित्त में आह्लाद भाव का संचार होता है, अर्थात् मन प्रसन्न होता है। प्रसन्न चित्त वाला जीव सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के साथ मैत्रीभाव स्थापित करता है। समस्त प्राणियों के साथ मैत्री भाव को प्राप्त हुआ जीव अपने भावों को विरुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।

निर्भीकता का यह भाव वीरता की कसौटी है। बाहरी वीरता में शत्रु से हमेशा भय बना रहता है, उसके प्रति शासक और शासित, जीत और हार, स्वामी और सेवक का भाव रहने से मन में संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं। इस बात का भय और आशंका बराबर बनी रहती है कि कब शासित और सेवक विद्रोह कर बैठें। जब तक यह भय बना रहता है तब तक मन बेचैनी और व्याकुलता से घिरा रहता है। पर सच्चा वीर निराकुल और निर्वेद होता है। उसे न किसी पर विजय प्राप्त करना ध्येय रहता है और न उस पर कोई विजय प्राप्त कर सकता है। वह सदा समताभाव-वीतरागभाव में विचरण करता है। उसे अपनी वीरता को प्रकट करने के लिये किन्हीं बाहरी साधनों का आश्रय नहीं लेना पड़ता। अपने तप और संयम द्वारा ही वह वीरत्व का वरण करता है।

जैनधर्म वीरों का धर्म

जैन धर्म के लिये आगम ग्रन्थों में जो नाम आये हैं, उनमें मुख्य हैं जिन धर्म, अर्हत धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म और श्रमण धर्म। ये सभी नाम वीर भावना के परिचायक हैं। 'जिन' वह है जिसने अपने आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली है। 'जिन' के अनुयायी जैन कहलाते हैं। 'अर्हत' धर्म पूर्ण योग्यता को प्राप्त करने का धर्म है। अपनी योग्यता को प्रकटाने के लिये आत्मा पर लगे हुए कर्म पुद्गलों को ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप की साधना द्वारा नष्ट करना पड़ता है। 'निर्ग्रन्थ' धर्म वह धर्म है जिसमें कषाय भावों से बंधी गाँठों को खोलने, नष्ट करने के लिये आत्मा के क्षमा, मार्दव, आर्जव, त्याग, संयम, ब्रह्मचर्य जैसे गुणों को जागृत करना होता है। 'श्रमण' धर्म वह धर्म है, जिसमें अपने ही पुरुषार्थ को जागृत कर, विषम भावों को नष्ट कर, चित्त की कुकृतियों को उपशांत कर समता भाव में आना होता है।

स्पष्ट है कि इन सभी साधनाओं की प्रक्रिया में साधक का आन्तरिक पराक्रम ही मुख्य आधार है। आत्मा से परे किसी अन्य परोक्ष शक्ति की कृपा पर यह विजय—आत्मजय आधारित नहीं है। भगवान् महावीर की महावीरता बाहरी युद्धों की विजय पर नहीं, अपने आन्तरिक विकारों की विजय पर ही निर्भर है। अतः यह वीरता युद्धवीर की वीरता नहीं, क्षमावीर की वीरता है।

१. उत्तराध्ययन ६।३४

२. दशवैकालिक ८।३६